



## श्रीमद्वल्लभाचार्य का भक्ति सिद्धान्त

डॉ० अशोक कुमार दुबे

एसोशिएट प्रोफेसर—संस्कृत, बी.एस.एन.वी.पी.जी. कॉलेज, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत।

### सारांश

श्रीमद्वल्लभाचार्य उस विशाल कृष्ण चेतना के सम्वाहक हैं, जिसने धर्म-दर्शन और साहित्य के माध्यम से शताब्दियों तक जनमानस का संस्कार और शृंगार किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य वल्लभ सोलहवीं शताब्दी के भक्ति आन्दोलन के नायक थे। पुष्टिमार्ग के माध्यम से उन्होंने भारत के सुदूर प्रान्तों को भी भावनात्मक एकता के सूत्र में बांध दिया था। अपने मानवतावादी दृष्टिकोण और भावसम्पन्नता के कारण पुष्टिमार्ग ने असाधारण लोकप्रियता अर्जित की। सम्पूर्ण उत्तर भारत, गुजरात और राजस्थान में इसका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। पुष्टिमार्ग के आश्रय से मध्यकाल में प्रभूत साहित्य की भी रचना हुई। अष्टछाप के सभी कवि पुष्टिमार्ग में दी दीक्षित थे। इनमें से चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार उनके कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ जी के थे।

**मुख्य शब्द :** आचार्य बल्लभ का भक्ति सिद्धान्त।

### प्रस्तावना

वल्लभाचार्य ने वैष्णव आचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते हुए 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य की रचना की, जिसका नाम 'अणुभाष्य' है। उन्होंने सूत्रों की स्वाभिमत व्याख्या करते हुए 'शुद्धाद्वैत' नाम से अपने मौलिक अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। एक परम्परा वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी और उनके रुद्र सम्प्रदाय से जोड़ने का कोई ठोस कारण नहीं मिलता। स्वयं वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार की कोई प्रतिबद्धता स्वीकार नहीं की है, न ही उनके सम्प्रदाय में ऐसी कोई मान्यता है जो वल्लभाचार्य अपने विरोधी शंकराचार्य का उल्लेख भी 'अस्मद्गुरु' कहकर करते हैं, वे अपने गुरु या गुरुपरम्परा की चर्चा भी न करें, यह सम्भव नहीं है। अतः यही मानना समीचीन है कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया है।

वल्लभाचार्य का समग्र चिन्तन श्रीमद्भागवत महापुराण से प्रभावित है। वस्तुतः वाल्लभमत का उपजीव्य श्रीमद्भागवत ही है, और उसे आचार्य श्री 'परम प्रमापण' स्वीकार करते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम और एकादश स्कन्धों पर उनकी लिखी 'सुबोधिनी' टीका प्राप्त होती है। सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से 'तत्त्वदीपनिबन्ध' इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ है, जिस पर स्वयं वल्लभाचार्य ने 'प्रकाश' नाम की टीका लिखी है। अणुभाष्य, तत्त्वदीपनिबन्ध और सुबोधिनी के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ ने सोलह प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनका सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। शुद्धाद्वैत दर्शन वैष्णव वेदान्त की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, और पुष्टिमार्ग श्रीमद्भागवत से प्रेरित भक्ति-सम्प्रदायों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक लोकप्रिय है। वल्लभाचार्य की भक्ति-विषयक अवधारणा पर विचार करने से पहले उनके दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। आचार्य वल्लभ के अनुसार परमसत्ता साकार और सगुण है। श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं। दिव्य रूप, गुण और अनन्तशक्तियों से युक्त हैं। श्रुति जब परब्रह्म को 'निर्गुण' कहती है, तो उसका अभिप्राय मात्र इतना है कि वह प्राकृतिक सत्त्वादि गुणों से रहित है। माया भगवान् की कार्यकारणात्मिका शक्ति है, उनकी उपाधि नहीं। परब्रह्म ही अपने आनन्दांश का तिरोभाव कर जीव रूप से और अपने

चिदंश का तिरोभाव कर जगत् रूप से प्रकट होते हैं। सृष्टि का प्रयोजन लीला है।

जीव ब्रह्म का अंश है। वह ब्रह्मात्मक तो है किन्तु अंश होने के कारण अंशी से न्यून है। जीव ब्रह्मांश होने से न स्वरूपतः ब्रह्म से स्वतंत्र है न धर्मतः। उसका कर्तव्य-भोक्तृत्व ईश्वराधीन है। अविद्या से वशीभूत जीव अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और स्वयं को तथा जगत् को ब्रह्म से भिन्न समझने लगता है। वह संसार पदार्थों में अहन्ता-ममता स्थापित कर लेता है। यही जीव का अज्ञान और बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है भगवान् के चरणों में सर्वात्मना आत्मसमर्पण। 'अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्-यही वह ज्ञान है, जिसकी भवचक्र से मुक्ति पाने के लिये जीव को अपेक्षा है।

वल्लभाचार्य ब्रह्म और जीव के मध्य 'अद्वैत सम्बन्ध' स्वीकार करते हैं। ब्रह्म और जीव का अद्वैत सहज और स्वाभाविक है, इसमें किसी उपाधि या माया-सम्बन्ध का लेश भी नहीं है। इसका विग्रह आचार्यश्री इस प्रकार करते हैं— 'शुद्धज्च तदद्वैतज्च' अथवा 'शुद्धयोः अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्।'

वल्लभाचार्य 'तत्त्वमसि महावाक्य का पर्यवसान शंकराचार्य की भांति जीव और ब्रह्म के पूर्ण ऐक्य में नहीं अपितु ब्रह्म के सर्वरूपत्व में मानते हैं। उनके अनुसार केवल 'तत्त्वमसि' ही नहीं 'तत्त्वमसि' पद से युक्त सम्पूर्ण वाक्य ही 'महावाक्य' है। जिस प्रकार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, से जगत् की ब्रह्मरूपता बतलाई गई है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य से जीव की ब्रह्मरूपता बतलाई गई है। वल्लभाचार्य का अद्वैत भेदसहिष्णु अभेद है। उन्होंने अपने अद्वैत में उतना और वैसा भेद स्वीकार किया जितना और जैसा भक्ति के निर्वाह के लिए आवश्यक है।

भगवान् की 'अहैतुकी' और 'आत्यन्तिकी' भक्ति जीव का सर्वोच्च काम्य और परम-पुरुषार्थ है। 'अनुराग' इस भक्ति का प्राणतत्त्व है। भक्ति न केवल भवबन्धनाश और भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है, वरन् यह स्वयं साध्यरूपा है; और इसके समक्ष चतुर्विध मुक्ति भी हेय है। भक्ति का यह सर्वातिशायी महत्त्व वैष्णव-चिन्तन की विशिष्ट प्रवृत्ति है। वल्लभाचार्य ने भी इस भक्तिसिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है।

भक्ति शब्द भज् धातु से भाव अर्थ में कितन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। आचार्यश्री ने तत्त्वदीपनिबन्ध की अपनी व्याख्या 'प्रकाश' में लिखा है कि भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ प्रेम और धात्वर्थ सेवा है। भज् धातु सेवा अर्थ में होती है, 'भज् सेवायाम्'—इस धातुपाठ से तथा 'भज् इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः'— इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट है। 'भजन ही भक्ति—वाच्य क्रिया है और यह सेवा रूप है। सेवा का अर्थ है निरन्तर परिचर्यारूप कायिक व्यापारविशेष। वल्लभाचार्य इस सेवा का मर्म स्पष्ट करते हुए हैं कि इस सेवा का प्रेमपूर्वक होना अत्यन्त आवश्यक है। केवल क्रिया तो 'जलताडन' की भांति निरर्थक होगी, साथ ही श्रम और क्लेश उत्पन्न करने के कारण भक्ति की 'स्वतः पुरुषार्थरूपता' भी खण्डित हो जायेगी। कितन् प्रत्यय से जो क्रिया घोटित होती है, वह निश्चय ही प्रेमपूर्विका है। इस प्रकार प्रधान होने से प्रेम ही भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ है और शारीरिक व्यापार अप्रधान होने से धात्वर्थ है।

श्री विट्ठलेश ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिहंस' में स्पष्टरूप से लिखा है—'भक्तिपदस्य शक्ति' स्नेह एवं'। पा...चरात्र आगम में भी 'स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः' ऐसा कहा गया है। शाण्डिल्यभक्तिसूत्र में भी 'अथातो भक्तिजिज्ञासा' सूत्र से भक्ति के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा कर 'सा परानक्तिरीश्वरं' कह कर उसे परम अनुरक्तिरूप बतलाया गया है। नारदभक्तिसूत्र में भी भक्ति को अनुरागात्मिका ही कहा गया है— 'स्वात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'। भक्ति की इन परिभाषाओं के आधार पर भक्ति उत्कट स्नेहरूप है, यही सिद्ध होता है। भक्ति की स्वरूप व्याख्या करते हुए आचार्य वल्लभ कहते हैं कि भज् धातु से कितन् प्रत्यय लगा कर जो क्रिया सूचित होती है, वह प्रधान की क्रिया में ही पर्यवसित होती है। प्रधान क्रिया सदैव मानसिक होती है, क्योंकि मन ही प्रधान इन्द्रिय है और मन से संयुक्त हुए बिना कोई भी इन्द्रिय सार्थक व्यापार नहीं करती। वाजसनेयि श्रुति में कही भी गया है—'अन्यत्रमना...भूवम्' अन्यत्रमना...भवं ना...पश्यम्। इस प्रकार मानसी सेवा ही प्रधान सेवा है और यह प्रेमरूपा है। प्रेम भावरूप है, भाव मन का धर्म है। इस तरह भक्ति का 'मानस होना सुस्पष्ट है। आचार्य ने अपने प्रकरण ग्रन्थ सिद्धान्तमुक्तावली में कहा है—

**"नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्। कृष्णसेवा सदा कार्या, मानसी सा परा मता।।"**<sup>1</sup>

मानसी का अर्थ सुस्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं—'चेतस्तत्त्वप्रवर्णनं सेवा, तत्सिद्धयै तनुवित्जा'—चित्त का कृष्णप्रवर्णन हो जाना ही सेवा अर्थात् भक्ति है। चित्तवृत्ति के चित्त से अभिन्न होने के कारण आचार्यश्री ने 'कृष्णप्रवर्णन हो जाना ही सेवा अर्थात् भक्ति है। चित्तवृत्ति के चित्त से अभिन्न होने के कारण आचार्यश्री ने 'कृष्णप्रवर्णन चित्त' को ही भक्ति कहा है। इसी प्रकार की यह श्रुति है—'भक्तिरस्यभजनं, तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येन मनःकल्पनम्'—यहाँ भी ईश्वराकाराकारित चित्त को ही भक्ति की संज्ञा दी है।

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहे गये जिस निर्गुण भक्ति रोग को वल्लभाचार्य 'अस्मत्प्रतिपादिता भक्तिः' कहते हैं, वह भी यही है। इस निर्गुण भक्तियोग की चर्चा आगे साध्यभक्ति के प्रसंग में की जायेगी। यह मानसी भक्ति साध्यरूपा है। यह अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाती, इसके लिये साधना की आवश्यकता होती है। भक्ति की साधना भक्ति से ही होती है। अतः आचार्यश्री ने मानसी भक्ति को श्रेष्ठ कहते हुए उसकी सिद्धि के लिये तनुजा की साधना भक्ति से ही होती है। अतः आचार्यश्री ने मानसी भक्ति को श्रेष्ठ कहते हुए उसकी सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवाओं का भी विधान किया है। तनुजा का अर्थ शरीर से की जाने वाली सेवा और वित्तजा का अर्थ है धन—सम्पत्ति आदि से की जाने वाली सेवा।

भक्ति में निश्चय ही 'भाव प्रमुख है' किन्तु ग्रन्थ 'भक्तिमार्तण्ड' में भक्ति को कायिक व्यापार के रूप में ही स्वीकार किया है, क्योंकि 'भज्' धातु का अर्थ यही है। यह अवश्य है कि यह शारीरिक व्यापार प्रभु के प्रति स्नेहपूर्वक ही होना चाहिये; तो बात वही ठहरती है कि 'श्रीकृष्णस्नेहत्वमेव भक्तिरित्यम्।' यह भक्ति ही 'रानानुगा' या 'प्रेमलक्षणा' भक्ति कहलाती है, जो अपने आप में फलरूपा है। तनुजा—वित्तजा सेवाएं और भक्तिमार्ग के सभी साधन, अनुष्ठान इस पराभक्ति को प्राप्त करने के लिये ही है। वाल्लभ मत में साधनभक्ति की विशेष चर्चा प्राप्त नहीं होती। सबने मुख्यतः साध्यभक्ति की ही चर्चा की है। वैसे सभी भक्ति सम्प्रदायों में नवधा भक्ति को रानानुगा भक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। वाल्लभ मत में भी नवलक्षणा भक्ति की स्वीकृति है। वल्लभाचार्य ने भागवत के द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी टीका में लिखा है कि नवधाभक्ति का भी प्रेमपूर्वकत्व अनिवार्य है अन्यथा उसका भक्तिमार्गीयत्व नहीं होगा। भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जैसे—तैसे साधना परिवर्ण होती जाती है, साधन स्वयं फलरूप होते जाते हैं। नवधाभक्तिजन्य प्रेम के साथ सेवा रते करते साधक के हृदय में भगवान् की दिव्य लीलाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस लीलास्फुरण से भगवान् में अनुराग उत्पन्न होता है, जो आगे चलकर भावभक्ति या पुष्टिभक्ति का रूप ले लेता है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में भक्त प्रह्लाद ने नवलक्षणा भक्ति का वर्णन किया है—

**"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।"**<sup>2</sup>

इस नवधाभक्ति के नौ अंगों का सामान्य परिचय इस प्रकार है— श्रवण—भगवान् के नाम रूप गुण और अलौकिक कर्मों के वर्णन को सुनना श्रवण है। वाल्लभ मत में लीला श्रवण का विशेष महत्त्व है। कीर्तन—भगवान् के रूप, गुण और लीला का गायन कीर्तन है। कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में लीलागान को संगीत का माध्यम मिला, जिससे वह और भी मोहक हो उठा। पुष्टिमार्ग में अष्टप्रहर की सेवा में लीलागान का विशेष आयोजन होता है। स्मरण— भगवान् के सुने हुए चरित्र की मानसिक आवृत्ति ही स्मरण है। इससे भगवान् में अनुराग दृढ़ होता है। इष्ट का नाम जप भी स्मरण के ही अन्तर्गत आता है। पादसेवन—इसका अर्थ है भगवान् के चरणकमलों में अनुरक्ति। श्रवण, कीर्तन और स्मरण से प्रभु का जो माहात्म्यबोध होता है, उसकी परिणति ही पादसेवन है। प्रभु के माहात्म्यबोध के साथ व्यक्ति को अपनी अकिंचनता का भी बोध होना चाहिये। दैन्यपूर्वक, अहंकार का परित्याग कर भगवान् के चरणकमलों की सेवा ही पादसेवन है। अर्चन—अर्चन व्यक्ति की बाह्योन्मुखी वृत्तियों के प्रत्याहार की विधा है। साधना के आरम्भ में चंचल चित्त को स्थिर करने के लिये किसी मूर्त और पार्थिव आलम्बन की आवश्यकता होती है। मूर्तिपूजा का मनोविज्ञान ही यही है। पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि के द्वारा प्रभु के श्रीविग्रह का पूजन ही अर्चन है। अर्चन से व्यक्ति के मन में भगवान् के प्रति सामीप्य, अनुराग और अभीप्सा के भाव दृढ़ होते हैं। वन्दन—आराध्य के प्रति सविनय प्रणति ही वन्दन है। वन्दन का अर्थ मात्र यशोगान नहीं है। आराध्य के स्वरूप, महिमा और कृपा का अनुभव कर रोम—रोम से पुलकित हो उठना ही वन्दन है। दास्य—भगवान् को प्रभु और स्वामी तथा स्वयं को उनका दास मानकर भक्ति करना ही दास्य है। वल्लभाचार्य ने दास्यभाव को ही विशेष मान्यता दी है। साख्य—भगवान् को सुहृद् और सखा मानकर उनके प्रति जो भक्तिभाव रखा जाता है, वही साख्य है। सेव्यसेवकभाव—जन्य वैषम्य साख्यभाव की प्रगाढ़ता में विलीन होने लगता है। भक्त का स्नेह

और भगवान् की ओर से दिया गया उसका प्रतिदान मिलकर सख्यभाव की सृष्टि करते हैं। सुदामा और अर्जुन की भक्ति सख्यभाव की थी। दास्य और सख्य भक्तिरस के अन्तर्गत 'स्थायी भाव' रूप से स्वीकृत हैं किन्तु नवधा भक्ति में इनका ग्रहण भक्त के मनोभावों के रूप में हुआ है। आत्मनिवेदन-उपर्युक्त आठों प्रकार के साधनों के अनुष्ठान से जब भक्त के हृदय में भगवान् का माहात्म्य ज्ञान तथा उनके प्रति प्रेमभाव दृढ़ हो जाता है, तब उसके मन में सर्वात्मना आत्म-समर्पण की भावना जाग्रत होती है, वह आत्मनिवेदन है भक्त अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना स्वत्व भी उन्हें समर्पित कर 'तदीय हो जाता है।'

सामान्यतः नवधाभक्ति का यह स्वरूप सर्वमान्य है। साधनभक्ति की चर्चा समाप्त करने के पूर्व वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग का संक्षिप्त अनुशीलन आवश्यक है।

भक्तिमार्ग ईश्वरप्राप्ति के सभी साधनों में श्रेष्ठ है, क्योंकि केवल इसके द्वारा ही साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञानमार्ग के द्वारा जिस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह पुरुषोत्तम की एक अपर अभिव्यक्ति मात्र है। अब प्रश्न उठता है कि भगवत्प्राप्ति के सर्वोत्कृष्ट उपायभूत इस भक्तिमार्ग में जीव को प्रवेश लता है? आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्तिमार्ग में प्रवेश पाने का बस एक ही मार्ग है, और वह है श्रीकृष्ण का अनुग्रहभाजन होना। भक्तिमार्ग 'स्वकृतिसाध्य' अर्थात् जीवप्रयत्नसापेक्ष नहीं है।

जिस जीव पर भगवान् की अतिशय कृपा होती है, उसे ही वे भक्तिमार्ग में अंगीकार करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान् का यह अनुग्रह शब्दवाच्य है। श्रीमद्भागवत के छठे अध्याय में इस पुष्टितत्त्व का विस्तार से निरूपण हुआ है, तथा इसे बनाकर उन्होंने जिस भक्तिमार्ग का प्रवर्तन किया उसे 'पुष्टिमार्ग' का नाम दिया।

श्रीमद्भागवत में 'पुष्टि' की व्याख्या करते हुए कहा गया है— "पोषणं तदनुग्रहः" पुष्टि का अर्थ है 'पोषण' अर्थात् भगवान् का अनुग्रह, उनकी कृपा। तत्त्वदीपनिबन्ध में आचार्य वल्लभ लिखते हैं— कृष्णानुग्रहरूपिका हि पुष्टिः कालादिबाधिका<sup>3</sup>। विशेष बात यह है कि यह 'पुष्टि' भगवान् की 'फलदित्सा' अर्थात् फल देने की इच्छा से भिन्न है; और जीव के प्रयत्नों की अपेक्षा नहीं रखती। यह प्रभु का 'स्वभाव' है, उनका एक धर्म है। जो कृपा, अनुकम्पा आदि शब्दों से वाच्य है— "अनुग्रहश्च धर्मान्तरमेव न तु फलदित्सा, कृपानुकम्पादिशब्दानां स वाचयः"<sup>4</sup>। यह पुष्टि सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार की है। सामान्य पुष्टि चारों पुरुषार्थों की साधिका है किन्तु विशेष पुष्टि केवल 'भगवत्स्वरूपफलिका' है अर्थात् उसके द्वारा साक्षात् पुरुषोत्तम की ही प्राप्ति होती है। अतः पुष्टिमार्ग में 'भगवदनुग्रह ही नियामक है 'अनुग्रह' पुष्टिमार्ग नियामक इतिस्थितिः (सिद्धान्तमुक्तावली)। भगवान् का अनुग्रहरूप धर्म यह पुष्टि स्वरूपतः अव्यक्त है, जीव की भक्तिमार्ग में जो रुचि है, उसे देखकर इसका अनुमान होता है— 'कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते' (तत्त्वदीपनिबन्ध)। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि भक्तिमार्ग का अधिकारी वही है, जिस पर भगवान् की अतिशय कृपा है।

अपने ग्रन्थों में भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हुए सबसे पहले वल्लभाचार्य ने तीन मार्गों का कथन किया है— प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि। क्रमशः कर्म, ज्ञान और भक्ति इनके प्राणभूत हैं। मार्गों के ये भेद मानव मन की रुचियों और प्रवृत्तियों के अनुसार हैं। प्रवाहमार्ग विषयभोग के सामान्य सांसारिक जीवन तथा जन्म-मरण के अहर्निश गतिशील प्रवाह का नाम है। प्रवाह का अर्थ है सृष्टिध्यापार की अविच्छिन्नता। मर्यादा का अर्थ है नियमों का अनतिक्रमण। कर्म, ज्ञानादि की श्रौत और स्मार्त परम्पराओं का अनुसरण करते हुए

ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयत्न करना ही मर्यादा मार्ग है। यह प्रमुख रूप से साधन सापेक्ष मार्ग है। पुष्टिमार्ग स्वरूप और फल की दृष्टि से इन दोनों मार्गों से भिन्न है। जिस पर भगवत्कृपा होती है, उसकी चित्तवृत्ति लोक और वेद के प्रति उदासीन सी हो जाती है— 'यदा यस्यानुगृहणाति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम्।' उसकी चित्तवृत्ति तो भगवान् के चरणारविन्दों में ही लगी रहती है, यही भक्ति का स्वभाव है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने भक्ति के द्वारा ही अपनी उपलब्धि की बात कही है—

"नाहं वेदैः न तपसा न ज्ञानेन न चेज्यया। शक्यमेवंविधो द्रष्टुं द्रष्टवानसि मां यथा।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।"

इस विषय में एक बात महत्वपूर्ण है कि आचार्य वल्लभ के अनुसार ये तीनों ही मार्ग थोड़ी-बहुत मात्रा में एक-दूसरे से संसृष्ट रहते हैं, क्योंकि ये तीनों जब 'विजातीयसम्बलित रहते हैं, तभी इनका मार्गतत्व होता है। अपने शुद्धरूप में ये तीनों ही भगवद्धर्म हैं। यही कारण है कि आचार्यश्री ने पुष्टिमार्ग में भी साधकों की प्रवृत्ति के अनुसार 'प्रवाहपुष्टि', 'मर्यादापुष्टि', 'पुष्टिपुष्टि' और 'शुद्धपुष्टि' जैसे भक्ति के भेद किये हैं। इस विषय के विस्तार के लिये 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

अनुग्रह से प्राप्त होने वाली यह भक्ति दो प्रकार की है— साधन-सापेक्ष मर्यादाभक्ति और साधन-निरपेक्ष पुष्टिभक्ति। जिस जीव का वरण भगवान् मर्यादामार्ग में करते हैं, उसे मर्यादाभक्ति और जिस जीव का वरण पुष्टिमार्ग में करते हैं, उसे पुष्टिभक्ति प्राप्त होती है। भगवदिच्छा ही इसमें नियामिका है। मर्यादामार्ग में साधक वेदोक्त, शास्त्रोक्त सभी साधनों का अनुष्ठान करते हुए भगवत्प्राप्ति का यत्न करता है। साधनरूपा नवधा भक्ति सिद्धान्त इस मर्यादाभक्ति का अंग है। ज्ञान, कर्म, भक्ति (नवधा) आदि जो मुक्ति के विहित उपाय हैं, उन स्वकृतिसाध्य उपायों से भक्त को जो मुक्ति प्राप्त होती है वह मर्यादामार्गीय मुक्ति कहलाती है। इस मार्ग भी साधन-परतंत्र हैं और भक्त को तदनुकूल ही फल प्रदान करते हैं। मर्यादाभक्तों की जो प्रेमलक्षणा भक्ति है, वह भी साधन सापेक्ष ही होती है। मर्यादाभक्त मोक्ष की इच्छा से भगवान् से प्रेम करते हैं, उनका प्रेम 'अहैतुक' नहीं होता। इस मार्ग के साधक को अपने प्रारब्ध का क्षय नियमानुसार भोग के द्वारा करना होता है।

पुष्टिमार्ग का स्वरूप मर्यादामार्ग के विपरीत है। यह अविहिता या रागानुगा भक्ति है। नवधा भक्ति का सोपान है— आत्मनिवेदन, वहीं से पुष्टि-भक्ति प्रारम्भ होती है।

इस मार्ग में श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम ही एक-मात्र अपेक्षा है, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। पुष्टिभक्ति के तीन घटक तत्त्व हैं—भगवदनुग्रह, आत्मनिवेदन और सेवा। भगवदनुग्रह तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बिना पुष्टिमार्ग की सम्पन्न नहीं होगी। शरणागतिपूर्वक आत्मनिवेदन दूसरा तत्त्व है। शरणागति का अर्थ है अपनी अकिंचनता और असाहयता का अनुभव करते हुए स्वयं को पूर्णरूप से भक्तवत्सल श्रीभगवान् की कृपा पर पर आश्रित कर छोड़ देना। पुष्टिमार्ग में जो आत्मसमर्पण होता है, वह व्यक्तित्व के स्थूलतम अंशों का भी होता है। केवल मन ही नहीं देहेन्द्रिय प्राण की समस्त ऋजु-कुटिल गतियां प्रभु को समर्पित हो जाती हैं। वह पूर्णतः 'तदीय' या 'भगवदीय' हो जाता है। जहाँ तक सेवा का प्रश्न है वल्लभाचार्य की दृष्टि में 'मानसी सेवा' ही मुख्य है, किन्तु साधना के प्रारम्भ में इस उच्च भावभूमि पर पहुँचना सहज नहीं होता। अतः उसकी सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवाओं का

भी विधान है। नवधाभक्ति के अन्तर्गत आने वाले श्रवण कीर्तन आदि का भी पुष्टिमार्ग में स्थान है, किन्तु यहां ये साधन रूप न होकर भगवान् के प्रति भक्त के स्नेह की सहज अभिव्यक्ति हैं। पुष्टिमार्ग में अष्टप्रहर की सेवाओं का बृहद् आयोजन होता है, अन्य भी कई प्रकार की विशिष्ट पूजाएँ हैं कन्तु ये सब अनन्य कृष्णप्रेम का उच्छलन है, कर्मकाण्ड नहीं। इस पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण स्वयं और उनकी अहैतुकी भक्ति स्वयं साध्यरूपा। पुष्टिमार्गीय भक्तों का यह दुर्लभ अधिकार है कि उनके प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोग के बिना ही हो जाता है।

वल्लभाचार्य ने भक्ति को जीव का परम पुरुषार्थ कहा है। श्रीकृष्ण के प्रति अहैतुकी भक्ति स्वयं साध्यरूपा है। इस साध्य भक्ति का विशद विवेचन आचार्यश्री ने किया है। उनका भक्तिसिद्धान्त श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में सात्त्विकादि भेद से भक्ति के इक्यासी प्रकार बताकर फिर निर्गुण भक्तियोग का कथन किया गया है—

“मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य युदाहृतम् अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।”

अर्थात् भगवान् के भक्तवत्सलता आदि गुणों के श्रवणमात्र से सागर में गंगा के निरन्तर प्रवाह की भांति चित्त की प्रभु की ओर जो अविच्छिन्न गति है, वह अहैतुकी और अव्यवहिता भक्ति है। यही निर्गुण भक्तियोग है। वल्लभाचार्य इस निर्गुण भक्तियोग को ही स्वाभिमत सिद्धान्त कहते हैं— ‘अस्मत्प्रतिपादितं च नैर्गुण्यम्’ । इन श्लोकों की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि निर्गुण शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। पहिला तो यह कि इस भक्ति का विषय पुरुषोत्तम है, जो अनन्तगुणविभूषित तो हैं किन्तु उनके गुण प्राकृत सत्त्वादि गुणों से भिन्न हैं। वे उन्हें सीमित या परिच्छिन्न नहीं करते। वैष्णव आचार्यों ने इसी अर्थ में ब्रह्म को ‘निर्गुण’ स्वीकार किया है। इस निर्गुण ब्रह्म को विषय बनाने के कारण यह भक्ति निर्गुणभक्ति है। निर्गुण का दूसरा अर्थ है, निष्काम भक्तियोग। कामनाएं और वासनाएं गुणों का ही कार्य हैं। जो भक्ति सत्त्वादि गुणों से परिच्छिन्न है, वह कामनाओं से युक्त होती है। यह भक्ति सभी कामनाओं से रहित है; अतः निर्गुण है।

इस निर्गुण भक्तियोग के दो विशेषण उपर्युक्त श्लोकों में दिये गये हैं— अहैतुकी और अव्यवहिता। जिस भक्ति का कोई हेतु या प्रयोजन नहीं है, जो फलाकांक्षा से रहित है, वह ‘अहैतुकी’ या अनिमित्ता है अथवा प्रभु ही जिसमें निमित्त हैं, जो ‘भगवन्निमित्ता’ है। यह भक्ति परम पुरुषार्थरूपा होने से स्वतंत्रा भी कहलाती है। ‘अव्यवहिता’ का अर्थ है सातत्य या नैरन्तर्ययुक्त। इस भक्ति का स्वरूप है चित्त का निरन्तर श्रीकृष्णरूप ही रहना। इस तरह निर्गुण भक्तियोग का अर्थ हुआ प्रत्ययान्तर से रहित कृष्ण का निरन्तर प्रीतिपूर्वक अनुस्मरण। चित्त की श्रीकृष्ण में यह ‘तन्निष्ठता’ या तदाकाराकारितता ही मानसी सेवा रूप ‘साध्य भक्ति’ है।

इस भक्ति के विकासक्रम के आधार पर अपने प्रकरण ग्रन्थ ‘भक्तिवर्द्धिनी’ में आचार्य वल्लभ ने इसके प्राणभूत तत्त्व ‘अनुराग’ की तीन स्थितियां बतलाई हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। पुष्टिमार्गीय अर्थात् अनुराग—संवलित श्रवण, मनन, गुणकीर्तन आदि से साधक के हृदय में स्थित ‘भक्तिबीज’ दृढ़ होता है। शास्त्र में उसी बीज को दृढ़ कहते हैं जो किसी कारण से नष्ट न हो। श्रीकृष्ण में यह अनुराग अन्य विषयों के प्रति विराग का कारण बनता है। प्रमेयरत्नार्णवकार लिखते हैं— ‘भगवदिभन्नरागनिवर्तको भगवद्भावः

स्नेहः’। सेवा श्रवण आदि की आवृत्ति से पुष्ट होकर यह ‘प्रेम’ क्रमशः ‘आसक्ति’ में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में साधक को भगवत्सान्निध्य में बाधक सभी पदार्थ प्रतिकूल लगते हैं। गृहपरिवार, धनवैभव सभी अनात्मभूत और त्याज्य लगते हैं— ‘भगवदितरविषयबाधकत्वस्फूर्तिसम्पादको भावः आसक्तिः” (प्रस्थानरत्नाकर)।

यही ‘आसक्ति’ उत्तरोत्तर दृढ़ और धनीभूत होती हुई ‘व्यसन’ में परिणत हो जाती है। यह व्यसन श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेमरूप है। ‘निरन्तर अनुध्यानरूप’ यह ‘व्यसन’ मानसी सेवा रूप भक्ति की पराकाष्ठा है— ‘यदा स्याद् व्यसनं कृष्ण कृतार्थः स्यात्तदैव हि’ । पुष्टिमार्ग में भी अर्चन, वन्दन, लीलाश्रवण जैसे जो बाह्य क्रियाकलाप हैं, उनका सम्पादन व्यसनभावपर्यन्त ही किया जाता है। व्यसन की धनीभूत कृष्णचेतना में किसी क्रिया के लिये अवकाश कहाँ रह जाता है?

अब तक साध्यभक्ति के विकास की तीन स्थितियों की चर्चा की गई। अब आचार्यश्री एक चौथी अवस्था भी बतलाते हैं। इस स्थिति को ‘सर्वात्मभाव’ कहते हैं। व्यसनरूपा भक्ति ही जब अत्यन्त प्रगाढ़ रूप धारण कर लेती है तब उसका यह सान्द्रभाव ही ‘सर्वात्मभाव’ है। इसकी व्याख्या करते हुए वल्लभाचार्य कहते हैं कि भगवत्प्राप्ति में विलम्ब न सह पाने के कारण, अत्यन्त आर्तभाव से सर्वत्र भगवत्स्वरूप की अनुभूति ही सर्वात्मभाव है। इसे और स्पष्ट करते हुए अणुभाष्य के विद्वान् टीकाकार पुरुषोत्तम महाराज कहते हैं कि परमासक्ति सदैव आनन्दप्रदमें ही होती है। सर्वाधिक प्रिय अपना आत्मस्वरूप ही होता है, यही उसका ‘प्रियत्वाख्य’ धर्म है। जीव के इस ‘प्रियत्वाख्य’ धर्म का अंशीभूत जो भगवान् का ‘प्रियत्वाख्य’ धर्म है, उसी वात्मभाव की अवस्था में अनुभव होता है। आचार्यश्री के अनुसार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सबके ‘आत्मभूत’ हैं, भक्तिमार्ग में जीव के निरुपधिस्नेह का विषय भी वे ही हैं। ‘आत्मपद’ का प्रयोग होने से यह भगवत्प्रतीति ‘अभेदावगाहिनी’ होनी चाहिये, अर्थात् दृष्टि में किञ्चिन्मात्र भी द्वैत नहीं होना चाहिये। आचार्यश्री स्पष्टरूप से हैं कि सृष्टि में अप्रियता और वैषम्य का बोध अज्ञानियों को ही होता है, भक्तों को तो सब कुछ कृष्णमय से कुछ भी अप्रिय नहीं लगता। यह सृष्टि कृष्णमय है— ‘अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्; श्रीधर स्वामी ने इसे ‘एकान्तभक्ति’ कहा है— ‘एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्’ । यही ‘पराविद्या’ है।

इस सर्वात्मभाव का पुरुषोत्तमप्राप्ति के प्रति अव्यवहितकारणत्व है अर्थात् यह श्रीकृष्णप्राप्ति का साक्षात्कारण स सर्वात्मभाव का निदर्शन रासपञ्चाध्यायी के प्रसंग में प्राप्त होता है। गोपियों को अपने कृष्णप्रेम पर जब अभिमान हो गया, तब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। उनके विरह में कातर गोपियां उन्हें सब ओर ढूँढ़ने लगीं। उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ गई कि उन्हें सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखलाई देने लगे। भाव जब और धनीभूत हुआ तो वे को ही कृष्ण समझने लगीं। यही सर्वात्मभाव की स्थिति है, जिसके अनन्तर प्रभु प्रकट हो जाते हैं। यह सर्वात्मभाव वल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति का सर्वोच्च और प्रगाढ़तम रूप है। यह अखण्ड आनन्द, परमशान्ति और कृष्णस्वरूप है। यही वह परमसाध्य है, जिसके समक्ष चतुर्विध मुक्ति हेय है। सिद्धान्त की इस सर्वांगीण विवेचना के पश्चात् आचार्य वल्लभ के भक्तिविषयक चिन्तन की जो विशिष्ट प्रवृत्तियां उभर कर सामने आती हैं, वे कुछ इस प्रकार हैं—

भक्ति ही आचार्य वल्लभ के दर्शन का प्राणतत्त्व है। यह बात उस वैष्णवदृष्टि की परिचायिका है, जिसमें और दर्शन, ईश्वर और ब्रह्म एक हो गये हैं। वैष्णव चिन्तन में भक्ति और प्रपत्ति को ज्ञान और कर्म की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला है। प्रेम और शरणागति—जीव की कृतार्थता के लिये यही अमोघ मंत्र है— ‘हरि को भजै सो। का

होई।

वल्लभाचार्य ने अपने मत में वेदोक्त कर्मकाण्ड और स्मार्त आचारपद्धतियों को भी स्थान दिया है, किन्तु नक्ति की अपेक्षा गौण हैं। यही स्थिति ज्ञान और कर्म की है। मर्यादामार्ग में माहात्म्यज्ञान और निष्काम कर्म सम्पादन की उपयोगिता स्वीकार की गई है, किन्तु उन्हें प्रेमसंवलित और भक्ति का सहकारी बना कर। पुष्टिमार्ग में तो खैर प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। भक्तिमार्ग के प्रतिपादन में वल्लभाचार्य रामानुजाचार्य के बहुत समीप चले आते हैं। रामानुजाचार्य ने भी भक्ति की दो विधाएँ प्रस्तुत की हैं। एक है भक्तियोग और दूसरा है प्रपत्तिमार्ग। भक्तियोग विहिता भक्ति है। इस मार्ग में भक्ति ईश्वर के माहात्म्यज्ञानपूर्वक हीलल उदित होती है और इस मार्ग में वेदाध्ययन तथा वेदविहितकर्मकाण्ड का अनासक्तिपूर्वक सम्पादन आवश्यक है। यह भक्तियोग भक्ति-ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद है। द्विजवर्णों के लिये हैं। इसके विपरीत प्रपत्तिमार्ग अविहिता रामानुगा और प्रेमरूपा भक्ति का मार्ग है। इसमें प्रेम और शरणागति अर्थात् प्रपत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। जाति, वर्ण और लिंगभगद के प्रति कोई आग्रह नहीं है। यहाँ भक्ति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। और 'परमाभक्ति' के रूप में स्वयं साध्य रूपा है। वल्लभाचार्य भी मर्यादामार्ग में भक्ति को ज्ञान-कर्म-सापेक्ष स्वीकार करते हैं और पुष्टिमार्ग में सर्वसाधननिरपेक्ष। इन दोनों मार्गों पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। यह अवश्य है कि रामानुजमत में ज्ञान और कर्म की स्थिति अधिक आदरणीय है।

वल्लभाचार्य के सिद्धान्त में एक बात जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि वे भक्ति को मानसी स्वीकार करते हैं। भक्ति भावरूपा है, एक दृष्टि है, एक मनःस्थिति है, एक आत्मविस्मृति है; वह अभिचार नहीं है। पुष्टिमार्ग में प्रारंभिक साधना में जब क्रियाप्रधान सेवा ही अधिक होती है, उस समय भी वल्लभ उसे अनुरागलक्षणा मानसिक सेवा का ही ज्ञापक मानते हैं। वह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने तनुजा वित्तजा सेवाओं के साथ 'भक्ति' शब्द का प्रयोग नहीं किया। आचार्यश्री साधनभक्ति या विहिताभक्ति में भक्ति शब्द का प्रयोग भी गौण स्वीकार करते हैं। वल्लभाचार्य ने भक्ति को भावरूपिणी मानकर उसे कर्मकाण्ड और वाह्यविधानों के सभी बन्धनों से मुक्त कर दिया। भक्ति का बाह्य कर्मकाण्ड से वैसा अटूट सम्बन्ध नहीं है जैसा समझा जाता है। पुष्टिमार्ग में तो, उन्होंने जैसे कर्मकाण्ड का बहिष्कार ही कर दिया। इस मार्ग में श्रीकृष्णसेवा का जो वह बृहत् सम्भार है, जो नवलक्षणा भक्ति है, जो अर्चन-वन्दन है, वह साधन नहीं है, कर्मकाण्ड नहीं है, वह इस क्रियाशील मनुष्य के जीवन में कृष्णप्रेम की अभिव्यक्ति है, क्रिया का 'अक्रियाभाव' को प्राप्त होना है।

वल्लभाचार्य ने जो साधनों के अतिक्रमण की बात कही है, उसके पीछे एक अभिसन्धि है। साधन जीवप्रयत्न-सापेक्ष होते हैं, वे जीव के कर्तृत्व और सामर्थ्य की अपेक्षा रखते हैं। साधनसम्पन्न व्यक्ति फल विशेष या अपने प्राप्य के प्रति एक अपेक्षा, एक अधिकार भावना रखता है। इस अधिकारभाव के कारण जीव में वह दैन्य नहीं आ पाता जो भक्ति की प्रथम अपेक्षा है। अहम्भाव मन को शुष्क और कठोर बना देता है, वह कृष्णप्रेम में तरलीकृत और तरंगायित नहीं हो पाता और फिर विचारणीय बात यह है कि अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न और आप्तकाम ईश्वर के आगे जीव के क्षुद्र प्रयत्नों का महत्त्व ही क्या है? भगवान् यदि रीझते हैं तो भक्त की शक्ति नहीं, अनुरक्ति पर रीझते हैं। इसीलिये आचार्यश्री ने आत्मनिवेदन पर इतना बल दिया है। वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत भक्ति की एक अन्य विशेषता यह भी है कि वह प्रेमलक्षणा होते हुए भी अतिशय भावुकता युक्त है। रागानुगा होने के कारण इसमें दास्य, सख्य,

वात्सल्य और माधुर्य-सभी अनुराग-भंगिमाओं का है, किन्तु सख्य, वात्सल्य और दास्य भाव को विशेष स्थान मिला है। पुष्टिमार्ग में तो 'यशोदोत्संगलालित' अर्थात् यशोदा की गोद में खेलने वाले श्रीकृष्ण ही परम इष्ट हैं। महाकवि सूरदास की जो दृष्टि है उस पर पुष्टि मार्ग और उनके गुरु वल्लभाचार्य का कम प्रभाव नहीं है। रामानुजाचार्य की भक्ति में जो शास्त्रीयता दिखलाई देती है, उसका उत्तरोत्तर हास होता गया और मध्ययुगीन भक्ति, विशेषरूप से कृष्ण भक्ति भावुक से भावुकतर होती चली गई। भावातिरेक में भक्ति में ऐन्द्रिकता और ऐन्द्रियता दोनों का समावेश होने लगा। आचार्यश्री ने अपनी भक्ति को इस भावातिरेक के चापल्य से बचाया। उनकी भक्ति अपने स्वरूप में बड़ी गम्भीर और मर्यादित है। अपनी इस दृष्टि के कारण उन्होंने दास्य भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा। आचार्य वल्लभ की कृष्णभक्ति अपने स्वरूप में बहुत कुछ रामभक्ति के समान है। वल्लभाचार्य के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुशीलन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे एक 'आचार्य' हैं जो भक्ति की भावसमृद्धियों से परिचित हैं, तो उसकी शालीनता और शास्त्रीय मर्यादा से भी अनभिज्ञ नहीं हैं; इसीलिये उन्होंने मनोभावों के आत्मविस्मृत प्रेमविह्वल प्रवाह को दास्यभक्ति के मर्यादा-कूल से बांध दिया है।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तत्त्वदीप निबन्ध-आचार्य वल्लभ।
2. अणुभाष्य 3/3/29 पर भाष्यप्रकाश
3. सिद्धान्त मुक्तावली
4. श्रीमदभागवत-सप्तम स्कन्ध